

द्वितीयखण्डम्

२५. मृगसेनधीवरस्य कथा

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम्। वक्ष्येऽहिंसाफलप्राप्त-धीवरस्य कथानकम् ॥१॥
जयत्वत्रार्हती वाणी सर्वसन्देहहारिणी। प्राणिनां प्राणवत्प्रीत्या सेविता शर्मकारिणी ॥२॥
सन्तु मे गुरवो नित्यं मानसे बोधसिन्धवः। घोरसंसारवार्ताशे-र्भव्यानां यत्र सेतवः ॥३॥
इत्यर्हद्भारतीसाधु-पादस्मरणमंगलम्। कृत्वा करोमि कर्मारि-शान्तये सत्कथामहम् ॥४॥
या हिंसा सर्वजन्तूनां नामतोपि भयप्रदा। सा त्रेधा त्यज्यते सद्भिर्हिंसा सांकल्पिकी सदा ॥५॥
पित्रर्थं देवतार्थं वा शान्त्यर्थं वात्र निर्मिता। शर्मणे न भवेद्धिंसा किन्तु दुष्कर्मणे मता ॥६॥
शृण्वन्तु सुधियो भव्या भवभ्रमणनाशनम्। अहिंसाव्रतमाहात्म्यं श्रेयसे शर्मकारणम् ॥७॥
अवन्तिविषये रम्ये सम्पदासारसंभृते। शिरीषग्रामवास्तव्यो धीवरो मृगसेनवाक् ॥८॥

२५. मृगसेन धीवर की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर मैं अहिंसाव्रत का फल पाने वाले एक धीवर की कथा लिखता हूँ ॥१॥

सब सन्देहों को मिटाने वाली, प्रीतिपूर्वक आराधना करने वाले प्राणियों के लिए सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली, जिनेन्द्र भगवान् की वाणी संसार में सदैव बनी रहे ॥२॥

संसाररूपी अथाह समुद्र से भव्य पुरुषों को पार कराने के लिए पुल के समान ज्ञान के सिन्धु मुनिराज निरन्तर मेरे हृदय में विराजमान रहें ॥३॥

इस प्रकार पंचपरमेष्ठी का स्मरण और मंगल करके कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए मैं अहिंसाव्रत की पवित्र कथा लिखता हूँ। जिस अहिंसा का नाम ही जीवों को अभय प्रदान करने वाला है, उसका पालन करना तो निस्सन्देह सुख का कारण है। अतः दयालु पुरुषों को मन, वचन और काय से संकल्पी हिंसा का परित्याग करना उचित है। बहुत से लोग अपने पितरों आदि की शान्ति के लिए श्राद्ध वगैरह में हिंसा करते हैं, बहुत से देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें जीवों की बलि देते हैं और कितने ही महामारी, रोग आदि के मिट जाने के उद्देश्य से जीवों की हिंसा करते हैं परन्तु यह हिंसा सुख के लिए न होकर दुःख के लिए ही होती है। हिंसा द्वारा जो सुख की कल्पना करते हैं, यह उनका अज्ञान ही है। पाप कर्म कभी सुख का कारण हो ही नहीं सकता। सुख है अहिंसाव्रत के पालन करने में। भव्य जन! मैं आपको भव भ्रमण का नाश करने वाला तथा अहिंसाव्रत का माहात्म्य प्रकट करने वाली एक कथा सुनाता हूँ; आप ध्यान से सुनें ॥४-७॥

अपनी उत्तम सम्पत्ति से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले सुरम्य अवन्ति देश के अन्तर्गत शिरीष

स्कन्धावलम्बितस्फार-पापकृद्गलजालकः। गच्छन्सिप्रां नदीं मत्स्यान्समानेतुं कदाचन ॥९॥
 मार्गे भूपादिभिर्भव्यैः समर्चितपदद्वयम्। इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-सेवनीयं मुनीश्वरम् ॥१०॥
 श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-स्याद्वादनयकोविदम्। सर्वजन्तून्समुद्धर्तुं बद्धकक्षं भटोत्तमम् ॥११॥
 धर्मोपदेशपीयूष-सन्तर्पितजगत्त्रयम्। स्ववाक्यकिरणैर्ध्वस्त-मिथ्यात्वतिमिरोत्करम् ॥१२॥
 दिगम्बरं महारत्न-त्रयालंकृतविगृहम्। दृष्ट्वा यशोधरं नाम तारहारयशोभरम् ॥१३॥
 आसन्नसुकृतोत्संगो दूरं त्यक्त्वा गलादिकम्। चक्रे दीर्घतरं भक्त्या प्रणामं तत्पदाम्बुजे ॥१४॥
 अहो महामुने स्वामिन् कामद्विपमृगाधिप। केनचिद्व्रतदानेन जनोयमनुगृह्यताम् ॥१५॥
 इत्युक्त्वा संस्थितोऽप्यग्रे विनयानम्रमस्तकः। तदा यशोधरः स्वामी स्वचित्ते संविचारयन् ॥१६॥
 कथं भो हिंसकस्यास्य मनोवृत्तिर्व्रतेऽभवत्। युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि-शुभाशुभनिभं मनः ॥१७॥
 प्रयुक्तावधिबोधेन ज्ञात्वा तुच्छायुषं च तम्। संजगाद दयायुक्तो भो सुधीरद्य वासरे ॥१८॥

नाम के एक छोटे से सुन्दर गाँव में मृगसेन नाम का एक धीवर रहा करता था। अपने कन्धों पर एक बड़ा भारी जाल लटकाए हुए एक दिन वह मछलियाँ पकड़ने के लिए क्षिप्रा नदी की ओर जा रहा था। रास्ते में उसे यशोधर नामक मुनिराज के दर्शन हुए। उस समय अनेक राजा महाराजा आदि उनके पवित्र चरणों की पर्युपासना कर रहे थे, मुनिराज जैन सिद्धान्त के मूल रहस्य स्याद्वाद के बहुत अच्छे विद्वान् थे, जीवमात्र का उद्धार करने हेतु वे सदा कमर कसे तैयार रहते थे, जीवमात्र का उपकार करना ही एक मात्र उनका व्रत था, धर्मोपदेश रूपी अमृत से सारे संसार को उन्होंने सन्तुष्ट कर दिया था, अपने वचनरूपी प्रखर किरणों के तेज से उन्होंने मिथ्यात्वरूपी गाढ़ान्धकार को नष्ट कर दिया था, उनके पास वस्त्र वगैरह कुछ नहीं थे किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी इन तीन मौलिक रत्नों से वे अवश्य अलंकृत थे। मुनिराज को देखते ही उसके ऐसा पुण्य का उदय आया, जिससे हृदय में कोमलता ने अधिकार कर लिया। अपने कन्धों पर से जाल हटाकर वह मुनिराज के समीप पहुँचा, बहुत भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम कर उसने उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामी! कामरूपी हाथी को नष्ट करने वाले हे केसरी! मुझे भी ऐसा व्रत दीजिए, जिससे मेरा जीवन सफल हो। ऐसी प्रार्थना कर विनय-विनीत मस्तक से वह मुनिराज के चरणों में बैठ गया। मुनिराज ने उसकी ओर देखकर विचार किया कि देखो! कैसे आज इस महाहिंसक के परिणाम कोमल हो गए हैं और इसकी मनोवृत्ति व्रत लेने की हुई है। सत्य है-आगे जैसा अच्छा या बुरा होना होता है, जीवों का मन भी उसी अनुसार पवित्र या अपवित्र बन जाता है अर्थात् जिसका भविष्य अच्छा होता है उसका मन पवित्र हो जाता है और जिसका बुरा होनहार होता है उसका मन भी बुरा हो जाता है ॥८-१७॥

इसके बाद मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा मृगसेन के भावी जीवन पर जब विचार किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि इसकी आयु अब बहुत कम रह गई है। यह देख उन्होंने करुणा बुद्धि से उसे समझाया कि हे भव्य! मैं तुझे एक बात कहता हूँ, तू जब तक जीए तब तक उसका पालन करना वह यह कि

आदौ जाले समायातो मीनः सन्त्यज्यते त्वया। जीवन्नेव महाभाग पालनीयं हि मद्वचः ॥१९॥
 यावत्स्वकीयहस्तेन मारितप्राणिजंगमम्। नैव प्राप्नोषि तावत्ते तन्निवृत्तिश्च सर्वथा ॥२०॥
 तथा पञ्चनमस्कार-मंत्रोच्यं त्रिजगद्धितः। सुस्थितेन त्वया ध्येयो दुःस्थितेनाथवा सुधीः ॥२१॥
 इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। मत्स्यबन्धोपि सन्तुष्टः सर्वं स्वीकृतवान्भृशम् ॥२२॥
 ये कुर्वन्ति गुरोर्वाक्यं प्रमाणं भक्तिनिर्भराः। तेषां स्वर्गापवर्गोत्थं सौख्यमायाति लीलया ॥२३॥
 तं नत्वा मृगसेनोसौ गत्वा सिप्रां नदीं द्रुतम्। मुक्त्वा जालं समासाद्य महामत्स्यं व्रतस्मृतेः ॥२४॥
 अहो मे सर्वदा पाप-कर्मणे मत्स्यघातिने। दैवयोगाद्ब्रतं दत्तं गुरुणा शर्मकारिणा ॥२५॥
 तस्मादयं न हन्तव्यो मयेति व्रतशुद्धिः। सारिणस्तस्य चिह्नय कर्णे चीरीं स्ववाससः ॥२६॥
 बद्ध्वा नद्यां तमत्याक्षीन्निर्विघ्नं हि सतां व्रतम्। भवेदामृत्युपर्यन्तं सारसम्पद्धिधायकम् ॥२७॥
 पुनस्तत्तीरणीतीरे दूरं गत्वा स्वकर्मकृत्। लब्ध्वा तमेव पाठीनं सोमुचद्भाविसद्गतिः ॥२८॥
 एवं तस्मिन्महामत्स्ये मोहजालोपमे तते। जाले लग्ने विमुक्ते च पञ्चशो व्रतरक्षणात् ॥२९॥
 तदाऽस्तं भुवनोद्भासी भास्करो गतवान्भृशम्। निर्गुणाः सगुणाश्चापि के के नास्तं गताः क्षितौ ॥३०॥

तेरे जाल में पहली बार जो मछली आए उसे तू छोड़ देना और इस तरह जब तक तेरे हाथ से मरे हुए जीव का मांस तुझे प्राप्त न हो, तब तक तू पाप से मुक्त ही रहेगा। इसके अतिरिक्त मैं तुझे पंचनमस्कार मंत्र सिखाता हूँ जो प्राणी मात्र का हित करने वाला है, उसका तू सुख में, दुःख में, सारोग या नीरोग अवस्था में सदैव ध्यान करते रहना। मुनिराज के स्वर्ग-मोक्ष के देने वाले इस प्रकार के वचनों को सुनकर मृगसेन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने यह व्रत स्वीकार कर लिया। जो भक्तिपूर्वक अपने गुरुओं के वचनों को मानते हैं, उन पर विश्वास लाते हैं, उन्हें सब सुख मिलता है और वे परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं ॥१८-२३॥

व्रत लेकर मृगसेन नदी पर गया। उसने नदी में जाल डाला। भाग्य से एक बड़ा भरी मत्स्य उसके जाल में फँस गया। उसे देखकर धीवर ने विचारा हाय! मैं निरन्तर ही तो महापाप करता हूँ और आज गुरु महाराज ने मुझे व्रत दिया है, भाग्य से आज ही इतना बड़ा मच्छ जाल में आ फँसा। पर जो कुछ हो, मैं तो इसे कभी नहीं मारूँगा। यह सोचकर व्रती मृगसेन ने अपने कपड़े की एक चिन्दी फाड़कर उस मत्स्य के कान में इसलिए बाँध दी कि यदि वही मच्छ दूसरी बार जाल में आ जाय तो मालूम हो जाये। इसके बाद वह उसे बहुत दूर जाकर नदी में छोड़ आया। सच है, मृत्यु पर्यन्त निर्विघ्न पालन किया हुआ व्रत सब प्रकार की उत्तम सम्पत्ति को देने वाला होता है ॥२४-२७॥

वह फिर दूसरी ओर जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा। पर भाग्य से इस बार भी वही मच्छ उसके जाल में आया। उसने उसे फिर छोड़ दिया। इस तरह उसने जितनी बार जाल डाला, उसमें वही-वही मत्स्य आया पर उससे वह क्षुब्ध नहीं हुआ अपितु अपने व्रत की रक्षा के लिए खूब दृढ़ हो गया। उसे वहाँ इतना समय हो गया कि सूर्य भी अस्त हो चला, पर उसके जाल में उस मत्स्य को छोड़कर और

ततोसौ मृगसेनस्तु स्वव्रते प्रीतमानसः। संस्मरन्स्वगुरोर्वाक्यं चचाल स्वगृहं प्रति ॥३१॥
 आगच्छन्तं तमालोक्य रिक्तं ज्ञात्वा च कारणम्। घंटाख्या यमघंटा वा कुपिता तस्य कामिनी ॥३२॥
 रे रे मूढ कथं रिक्तः समायातोसि मद्गृहे। भक्ष्यते किं दूषच्चेति जल्पन्ती निष्ठुरं वचः ॥३३॥
 कुटीरान्तः प्रविश्याशु दत्वा द्वारं दृढं स्थिता। सत्यं सामान्यनारीणां लाभेऽलाभे पतिः प्रियः ॥३४॥
 तदासौ धीवरो बाह्ये स्मरन्मन्त्रं नमस्कृतीः। उच्छीर्षके निधायोच्चैर्जर्णिषाकाष्ठं च सुप्तवान् ॥३५॥
 रात्रौ तस्माद्विनिर्गत्य दुर्जनेनैव पापिना। दष्टः सर्पेण निर्मुक्तः प्राणैर्दशभिरुत्सुकैः ॥३६॥
 प्रातःकाले तमःकाले दष्ट्वा तं घण्टया मृतः। पश्चात्तापं तदा कृत्वा रुदित्वा च पुनः पुनः ॥३७॥
 यदेवास्य व्रतं पूतं तदेवं स्यान्ममापि च। अयं जन्मान्तरे भर्ता भूयान्मे मानसप्रियः ॥३८॥
 कृत्वा निदानकं चेति सार्द्धं तेनैव साहसात्। संचक्रे चतुरैर्निन्द्यं तया वह्निप्रवेशनम् ॥३९॥
 अथास्त्येव विशालायां पुर्यां विश्वंभरः प्रभुः। राज्या विश्वगुणाख्याया-श्चित्तरत्नमलिम्लुचः ॥४०॥
 श्रेष्ठी श्रीगुणपालाख्यः परमेष्ठिप्रसन्नधीः। धनश्रीः श्रेष्ठिनी तस्याः सुबन्धुस्तनुजा शुभा ॥४१॥

कोई मत्स्य नहीं आया। अन्त में मृगसेन निरुपाय होकर घर की ओर लौट पड़ा। उसे अपने व्रत पर खूब श्रद्धा हो गई। वह रास्ते भर गुरु महाराज द्वारा सिखाए पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ चला आया। जब वह अपने घर के दरवाजे पर पहुँचा तो उसकी स्त्री उसे खाली हाथ देखकर आग बबूला हो उठी उसने गुस्से से पूछा-रे मूर्ख! घर पर खाली हाथ तो चला आया, पर बतला तो सही कि खायेगा क्या पत्थर? इतना कहकर वह घर के भीतर चली गई और गुस्से में उसने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिए। सच हैं-छोटे कुल की स्त्रियों का अपने पति पर प्रेम, लाभ होते रहने पर ही अधिक होता है। अपनी स्त्री का इस प्रकार दुर्व्यवहार देखकर बेचारा मृगसेन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसकी कुछ नहीं चली। उसे घर के बाहर ही रह जाना पड़ा। बाहर एक पुराना बड़ा भारी लकड़ा पड़ा हुआ था। मृगसेन निरुपाय होकर पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करता हुआ उसी पर सो गया। दिनभर के श्रम के कारण रात में वह नींद में सोया हुआ था कि उस लकड़े में से एक भयंकर और जहरीले सर्प ने निकल कर उसे काट खाया। वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥२८-३६॥

प्रातःकाल होने पर जब उसकी पत्नी ने मृगसेन की यह दुर्दशा देखी तो उसके दुःख का कोई ठिकाना नहीं रहा। वह रोने लगी, छाती कूटने लगी और अपने नीच कर्म का बार-बार पश्चात्ताप करने लगी। उसका दुःख बढ़ता ही गया। उसने भी यह प्रतिज्ञा ली कि जो व्रत मेरे स्वामी ने ग्रहण किया था वही मैं भी ग्रहण करती हूँ और निदान किया कि “ये ही मेरे अन्य जन्म में भी स्वामी हों।” अनन्तर साहस करके वह भी अपने स्वामी के साथ अग्नि प्रवेश कर गई इस प्रकार अपघात से उसने अपनी जान गँवा दी ॥३७-३९॥

विशाला नाम की नगरी में विश्वम्भर राजा राज्य करते थे। उनकी प्रिया का नाम विश्वगुणा था। वही एक सेठ रहते थे। गुणपाल उनका नाम था। उनकी स्त्री का नाम धनश्री था। धनश्री के सुबन्धु

तस्या धनश्रियश्चैव गर्भे पूर्वस्वपुण्यतः। मृगसेनः समागत्य संस्थितो गुणमण्डितः ॥४२॥
 तदा विश्वंभरो राजा वितसंगप्रणष्टधीः। नर्मभर्माख्यसचिव-सूनवे नर्मधर्मणे ॥४३॥
 श्रेष्ठिनं गुणपालं तं सुतां याचितवान् भृशम्। सुबन्धुं बन्धुराकारां कुलोद्योतनदीपिकाम् ॥४४॥
 अहो नष्टधिया राज्ञ्या याचितोहं भयाकुलः। चेद्दामि सुतां निन्द्य-कर्मणे नर्मधर्मणे ॥४५॥
 कुलक्रमक्षयो लोकेऽपवादस्तु भवेन्मम। नो चेत्सर्वस्वनाशः स्यात्प्राणापायोपि मानसे ॥४६॥
 इत्याकलय्य स श्रेष्ठी श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः। स्वमित्रस्य गृहे धृत्वा गर्भिणीं निजकामिनीम् ॥४७॥
 स्वापतेयं सुतां चापि गृहीत्वा गूढवृत्तितः। कौशाम्बीविषयं प्राप्तो देशत्यागो हि दुर्जनात् ॥४८॥
 अत्रान्तरे मुनी पूतौ श्रीदत्तावाससन्निधौ। वासिनोपासकेनोच्चैः समायातौ स्वमन्दिरे ॥४९॥
 शिवादिगुप्तमुन्यादि-गुप्तौ सद्गुप्तमण्डितौ। यथाविधि प्रतीक्ष्याशु ताभ्यां दत्त्वा शुभश्रिये ॥५०॥
 अन्नदानं जगत्सारं नाना सम्पद्विधायकम्। दुःखदारिद्र्यनिर्नाशि स्वीचक्रे पुण्यमद्भुतम् ॥५१॥

नाम की एक अतिशय सुन्दरी और गुणव्रती कन्या थी। पुण्योदय से मृगसेन धीवर का जीव धनश्री के गर्भ में आया ॥४०-४२॥

अपने नर्मधर्म नामक मंत्री के अत्यन्त आग्रह और प्रार्थना से राजा ने सेठ गुणपाल से आग्रह किया कि वह मंत्री नर्मधर्म के साथ अपनी पुत्री सुबन्धु का ब्याह कर दे। यह जानकर गुणपाल को बहुत दुःख हुआ। उसके सामने एक अत्यन्त कठिन समस्या उत्पन्न हुई उसने विचारा कि पापी राजा मेरी प्यारी सुन्दरी सुबन्धु का, जो कि मेरे कुलरूपी बगीचे पर प्रकाश डालने वाली है, नीच कर्म करने वाले नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देने को कहता है। उसने इस समय मुझे बड़ा संकट में डाल दिया। यदि सुबन्धु का नर्मधर्म के साथ ब्याह कर देता हूँ, तो मेरे कुल का क्षय होता है और साथ ही अपयश होता है और यदि नहीं करता हूँ, तो सर्वनाश होता है। राजा न जाने क्या करेगा? प्राण भी बचे या नहीं बचे? आखिर उसने निश्चय किया जो कुछ हो, पर मैं ऐसे नीचों के हाथ तो कभी अपनी प्यारी पुत्री का जीवन नहीं सौंपूँगा-उसकी जिन्दगी बरबाद नहीं करूँगा। इसके बाद वह अपने श्रीदत्त मित्र के पास गया और उससे सब हाल कह कर तथा उसकी सम्मति से अपनी गर्भिणी स्त्री को उसी के घर पर छोड़कर रात के समय अपना कुछ धन और पुत्री को साथ लिए वहाँ गुपचुप से निकल खड़ा हुआ। वह धीरे-धीरे कौशाम्बी आ पहुँचा। सच है, दुर्जनों के सम्बन्ध से देश भी छोड़ देना पड़ता है ॥४३-४८॥

श्रीदत्त के घर के पास ही एक श्रावक रहता था। एक दिन उसके यहाँ पवित्र चारित्र के धारक शिवगुप्त और मुनिगुप्त नाम के दो मुनिराज आहार के लिए आए ॥४९-५०॥

उन्हें श्रावक महाशय ने अपने कल्याण की इच्छा से विधिपूर्वक आहार दिया जो कि सर्वोत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति का कारण है। मुनिराज को आहार देकर उसने बहुत पुण्य उत्पन्न किया, जो कि दुःख दरिद्रता आदि का नाश करने वाला है। मुनिराज आहार के बाद जब वन में जाने लगे तब उनमें से

ततस्तत्प्राङ्गणे वीक्ष्य मुनिगुप्तो धनश्रियम्। पतिस्वपुत्रिकासार-कुटुम्बविरहाश्रितम् ॥५२॥
 परावासनिवासोत्थ-महादुःखेन दुःखिताम्। अलंकारविनिर्मुक्तां दुष्कृतिं कुकवेरिव ॥५३॥
 गर्भभारभराक्रान्तां दुर्व्यवस्थां समाश्रिताम्। ज्येष्ठं मुनीश्वरं प्राह पश्यतां भो महामुनेः ॥५४॥
 कोपि कष्टप्रदः पुत्रः कुक्षिमस्याः समाश्रितः। येनासौ दृश्यते नारी वराकी च मलीमसा ॥५५॥
 तच्छ्रुत्वा शिवगुप्तोसौ मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सप्ततत्त्वविशारदः ॥५६॥
 संजगौ मुनिगुप्तस्त्व मैवं ब्रूहि वृथा वचः। यद्यपि श्रेष्ठिनीदृक्च दुःखिता दृश्यते सती ॥५७॥
 गतेषु कतिचिद्दुःख-वासरेषु शुभोदयात्। अस्याः पुत्रः पवित्रात्मा जिनधर्मधुरंधरः ॥५८॥
 राजश्रेष्ठिपदाधीशो विश्वंभरमहीपतेः। कन्यापतिर्वणिग्वृन्द-सेवितः संभविष्यति ॥५९॥
 तन्निशम्य निजावास-कोष्ठस्थो दुष्टमानसः। श्रीदत्तो हन्तुकामोऽभूत्तदातद्भाविबालके ॥६०॥
 तिष्ठति स्म गृहे चैव स पापी बकवत्तराम्। कारणेन विना वैरी दुर्जनः सुजनो भवेत् ॥६१॥
 धनश्रीः श्रेष्ठिनी प्राप्य प्रसूतिदिवसं सती। सासूत तनयं साक्षात्पुण्यपुञ्जमिवापरम् ॥६२॥

मुनिगुप्त की नजर धनश्री पर पड़ी, जो कि श्रीदत्त के आँगन में खड़ी हुई थी। उस समय उसकी दशा अच्छी नहीं थी। बेचारी पति और पुत्री वियोग से दुःखी थी, पराये घर पर रह कर अनेक दुःखों को सहती थी, आभूषण वगैरह सब उसने उतार डालकर शरीर को शोभाहीन बना डाला था, कुकवि की रचना के समान उसका सारा शरीर रुक्ष और श्रीहीन हो रहा था और इन सब दुःखों के होने पर भी वह गर्भिणी थी, इससे और अधिक दुर्व्यवस्था में वह फँसी थी। उसे इस हालत में देखकर मुनिगुप्त ने शिवगुप्त मुनिराज से कहा-प्रभो, देखिये तो इस बेचारी की कैसी दुर्दशा हो रही है, कैसे भयंकर कष्ट का इसे सामना करना पड़ा है? जान पड़ता है। इसके गर्भ में किसी अभागे जीव ने जन्म लिया है, इसी से इसकी यह दीन-हीन दशा हो रही है। सुनकर जैनसिद्धान्त के विद्वान् और अवधिज्ञानी श्री शिवगुप्त मुनि बोले-मुनिगुप्त, तुम यह न समझो कि इसके गर्भ में कोई अभागा आया है किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय उसकी अवस्था ठीक नहीं है और यह दुःखी है परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद-इसके दिन फिरेंगे और पुण्य का उदय आएगा। इसके यहाँ जिसका जन्म होगा, वह बड़ा महात्मा, जिनधर्म का पूर्ण भक्त और राजसम्मान का पात्र होगा। होगा तो वह वैश्यवंश में पर उसका ब्याह इन्हीं विश्वंभर राजा की पुत्री के साथ होगा, राजवंश भी उसकी सेवा करेगा ॥५१-५९॥

मुनिराज की भविष्य वाणी पापी श्रीदत्त ने भी सुनी। वह था तो धनश्री के पति गुणपाल का मित्र, पर अपने एक जातीय बंधु का उत्कर्ष होना उसे सह्य नहीं हुआ। उसका पापी हृदय मत्सरता के द्वेष से अधीर हो उठा। उसने बालक को जन्मते ही मार डालने का निश्चय किया। अब से वह बाहर कहीं न जाकर बगुले की तरह सीधा साधा बनकर घर ही में रहने लगा। सच है-दुर्जन-शत्रु बिना कारण के भी सुजन-मित्र बन जाया करते हैं ॥६०-६१॥

पहले तो श्रीदत्त बेचारी धनश्री को कष्ट दिया करता था और अब उसके साथ बड़ी सज्जनता

प्रसूतिदुःखतो मूर्च्छा संगतां तां धनश्रियम्। ज्ञात्वा श्रीदत्तकः पापी स्वचित्ते कृतचिन्तनः ॥६३॥
 वह्निवद्बालकोप्येष स्वाश्रयक्षयकारकः। इत्यालोच्य मृतो जातो बालको जरतीजनैः ॥६४॥
 कृत्वोद्घोषं समाकार्य चाण्डालं चण्डकर्मकृत्। बालं तस्यार्पयामास वधार्थी स वणिक्कुधीः ॥६५॥
 शत्रुजोपि न हन्तव्यो बालकः किं पुनर्वृथा। हा कष्टं किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः फणिनो यथा ॥६६॥
 मातंगोपि तमादाय गत्वैकान्ते लसत्प्रभम्। तदाकारं समालोक्य शर्मकोटिविधायकम् ॥६७॥
 संजातकरुणासार-सुधासंपूरिताशयः। तत्रार्भकं सुखं धृत्वा स्वयं च गतवान् गृहम् ॥६८॥
 श्रीदत्तकस्य तस्यैव भगिन्याः पतिरुत्तमः। इन्द्रदत्तो वणिग्वर्यो विक्रयाय विनिर्गतः ॥६९॥
 गोष्ठीने च समायातः श्रुत्वा गोपालजल्पनैः। चन्द्रकान्तोत्पलोत्पीठे गोवत्साद्यैश्च सेविते ॥७०॥
 सुखासीनं समालोक्य बालं वा बालभास्करम्। नीत्वा पुत्रविहीनत्वात्पुत्रबुद्ध्या प्रहर्षतः ॥७१॥
 हे राधे गूढगर्भोत्थं पुत्रं ते त्वं गृहाण वै। इत्युक्त्वा निजभार्यायै राधायै परमादरात् ॥७२॥

का बर्ताव करने लगा। धनश्री सेठानी ने समय पाकर पुत्र को प्रसव किया। वास्तव में बालक बड़ा भाग्यशाली हुआ। वह उत्पन्न होते ही ऐसा तेजस्वी जान पड़ता था, मानो पुण्यसमूह हो। धनश्री पुत्र की प्रसव वेदना से मूर्छित हो गई उसे अचेत देखकर पापी श्रीदत्त ने अपने मन में सोचा- बालक प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह तेजस्वी है, अपने को आश्रय देने वाले का ही क्षय करने वाला होगा, इसलिए इसका जीता रहना ठीक नहीं। यह विचार कर उसने अपने घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियों द्वारा यह प्रकट करवा कर, कि बालक मरा हुआ पैदा हुआ था, बालक को एक दुर्जन के हाथ सौंप दिया और उससे कह दिया कि इसे ले जाकर मार डालना। उचित तो यह था कि-

शत्रु का भी यदि बच्चा हो, तो उसे नहीं मारना चाहिए, तब दूसरों के बच्चों के सम्बन्ध में तो क्या कहें? परन्तु खेद है कि सर्प के समान दुष्ट पुरुष कोई भी बुरा काम करते नहीं हिचकते। चाण्डाल बच्चे को एकान्त में मारने को ले गया, पर जब उसने उजले में उसे देखा तो उसकी सुन्दरता को देखकर उसे भी दया आ गई करुणा से उसका हृदय भर आया। सो वह उसे न मारकर वहीं एक अच्छे स्थान पर रखकर अपने घर चला गया ॥६२-६८॥

श्रीदत्त की एक बहिन थी। उसका ब्याह इन्द्रदत्त सेठ के साथ हुआ था। भाग्य से उसके सन्तान नहीं हुई थी। बालक के पूर्व पुण्य के उदय से इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ इसी ओर आ निकला। जब वह ग्वाल लोगों के मुहल्ले में आया तो उसने ग्वालों को परस्पर बातें करते हुए सुना कि “एक बहुत सुन्दर बालक को न जाने कोई अमुक स्थान की सिला पर लेटा गया है, वह बहुत तेजस्वी है, उसके चारों ओर अपनी गायों के बच्चे खेल रहे हैं और वह उनके बीच में बड़े सुख से खेल रहा है।” उनकी बातें सुनकर ही इन्द्रदत्त बालक के पास आया। वह एक दूसरे बाल सूर्य को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कोई सन्तान तो थी ही नहीं, इसलिए बच्चे को उठाकर वह अपने घर ले आया और अपनी प्रिया से बोला-प्यारी राधा? तुम्हें इसकी खबर भी नहीं कि तुम्हारे गूढगर्भ से अपने कुल का प्रकाशक

दत्त्वा स्तनंधयोत्पत्तेः संचक्रेऽसौ महोत्सवम्। प्राणिनां पूर्वपुण्याना-मापदा सम्पदायते ॥७३॥
 श्रीदत्तेन तमाकर्ण्य वृत्तान्तं दुष्टचेतसा। तत्रागत्येन्द्रदत्तस्य गेहे भो स्नेहवत्सल ॥७४॥
 भागिनेयोयमत्यन्त-भाग्यभाग् मन्दिरे मम। वर्धतामिति कूटोक्त्या नीतोसौ भगिनीयुतः ॥७५॥
 अहो दुष्टाशयः प्राणी चित्तेऽन्यद्वचनेऽन्यथा। कायेनान्यत्करोत्येव परेषां वंचनं महत् ॥७६॥
 पूर्ववद्धन्तुकामोसौ तं शिशुं शुभलक्षणम्। अन्तावसायिने शीघ्रं ददौ निर्दयमानसः ॥७७॥
 गृहीत्वा श्वपचः सोपि बालकं भुवनोत्तमम्। तद्रूपसम्पदां वीक्ष्य सञ्जातः सदयो भृशम् ॥७८॥
 क्वचित्स गह्वरे देशे प्रोल्लसद्गुमसंकुले। सत्तोयतीरणीतीरे तं निधाय गतो गृहम् ॥७९॥
 गुणपालसुतः सोपि पूर्वोपार्जितपुण्यतः। तत्रायाताभिरानन्द-ध्वनिभिर्धनुभिस्तराम् ॥८०॥

पुत्र हुआ है? और देखो वह यह है इसे ले लो और पालो। आज अपना जीवन कृतार्थ हुआ। यह कहकर उसने बालक को अपनी प्रिया की गोद में रख दिया है। बालक की खुशी के उपलक्ष में इन्द्रदत्त ने खूब उत्सव किया। खूब दान किया। सच है—पुण्यवानों के लिए विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है॥६९-७३॥

पापी श्रीदत्त को यह सारा हाल मालूम हो गया। इससे वह इन्द्रदत्त के घर आया और मायाचार से अपने बहनोई से कहा—देखो जी, हमारा भानजा बड़ा तेजस्वी है, बड़ा भाग्यवान् है, इसलिए उसे हम अपने घर पर ही रखेंगे। आप हमारी बहिन को भेज दीजिये। बेचारा इन्द्रदत्त उसके पापी हृदय की बात नहीं जान पाया। इसलिए उसने अपने सीधे स्वभाव से अपनी प्रिया को पुत्र सहित उसके साथ कर दिया। बहुत ठीक लिखा है—

जिन लोगों का हृदय दुष्ट होता है, उनके चित्त में कुछ और रहता है, वचनों से वे कुछ और ही कहते और शरीर से कुछ और ही करते हैं। दूसरों को ठगना, उन्हें धोखा देना ही एक मात्र ऐसे पुरुषों का उद्देश्य रहता है। पापी श्रीदत्त भी एक ऐसा ही दुष्ट मनुष्य था। इसीलिए तो वह निरपराध बालक के खून का प्यासा हो उठा। उसने पहले की तरह फिर भी उसे मार डालने की इच्छा से एक चाण्डाल को बहुत कुछ लोभ देकर उसके हाथ सौंप दिया। चाण्डाल ने भी बालक को ले तो लिया पर जब उसने उसकी स्वर्गीय सुन्दरता देखी तो उसके हृदय में भी दया आ गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो, मैं कभी इस बच्चे को न मारूँगा और इसे बचाऊँगा। वह अपना विचार श्रीदत्त से नहीं कहकर बच्चे को लिवा ले गया। कारण श्रीदत्त की पाप वासना उसे कभी जिन्दा रहने न देगी, यह उसे उसकी बातचीत से मालूम हो गया था। चाण्डाल बच्चे को एक नदी के किनारे पर लिवा ले गया। वहीं एक सुन्दर गुहा थी, जिसके चारों ओर वृक्ष थे। वह बालक को उस गुहा में रखकर अपने घर पर लौट आया ॥७४-७९॥

संध्या का समय था। ग्वाल लोग अपनी-अपनी गायों को घर पर लौटा कर ला रहे थे। उनमें

तद्वीक्षणात्क्षरक्षीर-स्तनीभिरुपसेवितः। धात्रिकाभिरिव प्रीत्या स्थितो वा जननीकरे ॥८१॥
 गोपालकैस्तथाभूतं दृष्ट्वा तं लीलया स्थितम्। सन्ध्याकाले समायातैः प्रोल्लसन्मुखपंकजम् ॥८२॥
 सर्वगोष्ठप्रधानाय गोविन्दाय प्रवेगतः। महाविस्मयतां प्राप्तेः प्रोक्तं तद्बालचेष्टितम् ॥८३॥
 गोपालाधिपतिः सोपि गोविन्दस्तं सुतेच्छया। समानीय सुनन्दायाः स्वकान्तायाः समर्थं च ॥८४॥
 धनकीर्तिरिति व्यक्तं कृत्वा नामास्य संभ्रमात्। पालयामास यत्नेन प्रोल्लसत्प्रीतिमण्डितः ॥८५॥
 सोपि गोपाङ्गनानेत्र-नीलोत्पलसुधाकरः। सर्वलक्षणसम्पूर्णो जनयन्प्रीतिमद्भुताम् ॥८६॥
 रूपेण कामदेवो वा कान्त्या वा मृगलाञ्छनः। तेजसा नूतनार्को वा वृद्धिं प्राप गुणैः सह ॥८७॥
 आज्यार्थमेकदा तेन तत्रायातेन दुर्धिया। श्रीदत्तेन तमालोक्य ज्ञात्वा तद्वृत्तकं महत् ॥८८॥
 प्रोक्तं गोविन्द मद्गहे कार्यमस्त्येव सत्वरम्। इमं लेखं करे दत्वा प्रेषणीयोयमङ्गजः ॥८९॥
 गोविन्दः प्राह शुद्धात्मा भो श्रेष्ठिन्नेवमस्तु च। अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः ॥९०॥

से कुछ गायें इस गुहा की ओर आ गई थीं, जहाँ गुणपाल का पुत्र अपने पूर्वपुण्य के उदय से रक्षा पा रहा था। धाय के समान उन गायों ने आकर उस बच्चे को घेर लिया। मानों बच्चा प्रेम से अपनी माँ की ही गोद में बैठा हो। बच्चे को देखकर गायों के थनों में से दूध झरने लग गया। ग्वाल लोग प्रसन्नमुख बच्चे को गायों से घिरा हुआ और निर्भय खेलता हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे। उन्होंने जाकर अपनी जाति के मुखिया गोविन्द से यह सब हाल कह सुनाया। गोविन्द के कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए वह दौड़ा गया और बालक को उठा लाकर उसने अपनी सुनन्दा नाम की प्रिया को सौंप दिया। उसका नाम उसने धनकीर्ति रखा। वहाँ बड़े यत्न और प्रेम से उसका पालन व संरक्षण होने लगा। धनकीर्ति भी दिनों दिन बढ़ने लगा। वह ग्वाल महिलाओं के नेत्ररूपी कुमुद पुष्पों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा था। उसे देखकर उनके नेत्रों को बड़ी शान्ति मिलती थी। वह सब सामुद्रिक लक्षणों से युक्त था। उसे देखकर सबको बड़ा प्रेम होता था। वह अपनी रूप मधुरिमा से कामदेव जान पड़ता था, कान्ति चन्द्रमा और तेज से एक दूसरा सूर्य से जैसे-जैसे उसकी सुन्दरता बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे ही उसमें अनेक उत्तम-उत्तम गुण भी स्थान पाते चले जाते थे ॥८०-८७॥

एक दिन पापी श्रीदत्त घी की खरीद करता हुआ इधर आ गया। उसने धनकीर्ति को देखकर पहचान लिया। अपना सन्देह मिटाने को और भी दूसरे लोगों से उसने उसका हाल जान लिया। उसे निश्चय हो गया कि यह गुणपाल ही का पुत्र है। तब उसने फिर उसके मारने का षड्यंत्र रचा। उसने गोविन्द से कहा-भाई, मेरा एक बहुत जरूरी काम है, यदि तुम अपने पुत्र द्वारा उसे करा दो तो बड़ी कृपा हो। मैं अपने घर पर भेजने के लिए एक पत्र लिख देता हूँ, उसे यह पहुँचा आवे। बेचारे गोविन्द ने कह दिया कि मुझे आपके काम से कोई इनकार नहीं है। आप लिख दीजिये, यह उसे दे आयेगा। सच बात है-दुष्टों की दुष्टता का पता जल्दी से कोई नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्त ने पत्र में लिखा ॥८८-९०॥

पापिना लिखितस्तेन लेखं पुत्रमहाबलः। अस्मत्कुलद्रुमध्वंसी-ज्वलत्कालानलोप्ययम् ॥९१॥
 हन्तव्यो ब्रह्मपुत्रेण मद्वाक्यैर्मुसलेन वा। तं गृहीत्वा कुमारोपि धनकीर्तिर्गुणोज्ज्वलः ॥९२॥
 कण्ठालंकारसान्निध्ये बध्वा लेखं भटाग्रणीः। तातश्रेष्ठिनिदेशेन निःशङ्कश्चलितो मुदा ॥९३॥
 उज्जयिन्यां प्रवेशेऽसौ प्राप्तश्चाग्नमहावनम्। मार्गश्रमविनाशाय सुप्तो वृक्षतले सुखम् ॥९४॥
 अत्रान्तरे समायाता तद्वने सपरिच्छदा। नाना प्रसूनसन्दोह-चुण्टने प्रीतिमानसा ॥९५॥
 भूरिविद्याविनोदाढ्याऽनंगसेनाभिधानिका। पण्याङ्गनाम्रवृक्षस्य मूले सुप्तं निरीक्ष्य तम् ॥९६॥
 पूर्वजन्मोपकारेण जातस्नेहा महादरात्। शनैर्लेखं समादाय ज्ञात्वा तच्छ्रेष्ठिचेष्टितम् ॥९७॥
 तान्यक्षराण्युपायेन परामृश्य विचक्षणा। तस्मिन्नेव तदा पत्रे लोचनाञ्जनभाजनात् ॥९८॥
 गृहीतकज्जलेनोच्चै-र्वल्लीनिर्यासशालिना। संलिखित्वेति मद्भार्या मन्यते मां यदि प्रियम् ॥९९॥

पुत्र महाबल, जो तुम्हारे पास पत्र लेकर आ रहा है, वह अपने कुल का नाश करने के लिए भयंकरता से जलता हुआ मानों प्रलय काल की अग्नि है, समर्थ होते ही यह अपना सर्वनाश कर देगा। इसलिए तुम्हें उचित है कि इसे गुप्तरीति से तलवार द्वारा वा मूसले से मार डालकर अपना कांटा साफ कर दो। काम बड़ी सावधानी से हो, जिसे कोई जान न पावे ॥९१-९२॥

पत्र को अच्छी तरह बन्द करके उसने कुमार धनकीर्ति को सौंप दिया। धनकीर्ति ने उसे अपने गले में पड़े हुए हार से बाँध लिया और सेठ की आज्ञा लेकर उसी समय वह वहाँ से निडर होकर चल दिया। वह धीरे-धीरे उज्जयिनी के उपवन में आ पहुँचा। रास्ते में चलते-चलते वह थक गया था इसलिए थकावट मिटाने के लिए वह वहीं एक वृक्ष की ठंडी छाया में सो गया। उसे वहाँ नींद आ गई ॥९३-९५॥

इतने ही में वहाँ एक अनंगसेना नाम की वेश्या फूल तोड़ने के लिए आई, वह बहुत सुन्दरी थी अनेक तरह के मौलिक भूषण और वस्त्र वह पहने थी। उससे उसकी सुन्दरता भी बेहद बढ़ गई थी। वह अनेक विद्या कलाओं की जानने वाली और बड़ी विनोदिनी थी। उसने धनकीर्ति को एक वृक्ष के नीचे सोता देखा। पूर्वजन्म में अपना उपकार करने के कारण से उस पर उसका बहुत प्रेम हुआ। उसके वश होकर ही उसे न जाने क्या बुद्धि उत्पन्न हुई जो उसने उसके गले में बँधे हुए श्रीदत्त के कागज को खोल लिया। पर जब उसने उसे बाँचा तो उसके आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा। एक निर्दोष कुमार के लिए श्रीदत्त का ऐसा घोर पैशाचिक अत्याचार का हाल पढ़कर उसका हृदय काँप उठा। वह उसकी रक्षा के लिए घबरा उठी। वह भी थी बड़ी बुद्धिमती सो झट एक युक्ति सूझ गई। उसने उस लिखावट को बड़ी सावधानी से मिटाकर उसकी जगह अपनी आँखों में अंजे हुए काजल को पत्तों के रस से गीली की हुई सलाई से निकाल-निकाल कर उसके द्वारा लिख दिया कि-“प्रिये! यदि तुम मुझे सच्चा अपना स्वामी समझती हो और पुत्र महाबल! तुम यदि वास्तव में मुझे अपना पिता समझते हो तो इस पत्र लाने वाले के साथ श्रीमती का ब्याह शीघ्र कर देना। अपने को बड़े भाग्य से ऐसे वर की प्राप्ति हुई

पुत्रो महाबलश्चापि चेन्मां जानाति तातकम्। तदा सर्वप्रकारेण कन्यास्मै धनकीर्तये ॥१००॥
 शाखासप्तकपर्यन्तं शोधिताय महात्मने। ममापेक्षां विना शीघ्रं दानमानादिपूर्वकम् ॥१०१॥
 दातव्या श्रीमतिश्चेति पूर्ववत्पत्रमुत्तमम्। कण्ठे तस्य निबध्योच्चैर्जीवितं वा हि सागमत् ॥१०२॥
 ततः श्रीधनकीर्तिस्तु चिरेणोत्थाय शुद्धधीः। श्रीदत्तस्य गृहं गत्वा दत्त्वा लेखं तयोर्द्वयोः ॥१०३॥
 मातृपुत्रकयोः शीघ्रं श्रीमत्या वल्लभोभवत्। संभवेत्कृतपुण्यानां महापायेऽपि सत्सुखम् ॥१०४॥
 तां वार्तां च समाकर्ण्य श्रीदत्तो व्यग्रमानसः। प्रत्यागत्य पुरीबाह्ये चण्डिकामन्दिरे पुनः ॥१०५॥
 संकेतपुरुषं धृत्वा तद्वधाय दुराशयः। समागत्य गृहं प्राह प्रच्छन्नं तनुजापतिम् ॥१०६॥
 धनकीर्तेः शृणु व्यक्तं मदीयेष्यस्ति वंशके। आचारोयं सुधी रात्रि-मुखे कात्यायनीगृहे ॥१०७॥
 गृहीत्वा माषनिर्माणं कीरकाकबलिं द्रुतम्। संछाद्य रक्तवस्त्रेण पुत्रीकान्तेन सादरम् ॥१०८॥
 हस्तस्थकंकणेनोच्चैर्गन्तव्यं सर्वशान्तये। तच्छ्रुत्वा धनकीर्तिस्तु यथादेशस्तथास्तु वै ॥१०९॥

है। मैंने इसकी साखें वगैरह सब अच्छी तरह देख ली है। कहीं कोई बाधा आती है। इस काम के लिए तुम मेरी भी अपेक्षा नहीं करना। कारण, सम्भव है मुझे आने में कुछ विलम्ब हो जाए। फिर ऐसा योग मिलना कठिन है। वर के मान-सम्मान में तुम लोग किसी प्रकार की कमी मत रखना।”

इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेना ने पहले की तरह उसे धनकीर्ति के गले में बाँध दिया अथवा यों कह लीजिए कि उसने धनकीर्ति को मानों जीवन प्रदान किया। इसके बाद वह अपने घर पर लौट आई ॥९६-१०२॥

अनंगसेना के चले जाने के बाद धनकीर्ति की भी नींद खुली। वह उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा। उसने पत्र निकाल कर श्रीदत्त की स्त्री के हाथ में सौंपा। पत्र को उसके पुत्र महाबल ने भी पढ़ा। पत्र पढ़कर उन्हें बहुत खुशी हुई। धनकीर्ति का उन्होंने बहुत आदर-सम्मान किया तथा शुभ मुहूर्त में श्रीमती का ब्याह उसके साथ कर दिया। सच कहा है—

पुण्यवान् जीवों को महासंकट के समय भी जीवन के नष्ट होने के कारणों के मिलने पर भी सुख प्राप्त होता है। यह हाल जब श्रीदत्त को ज्ञात हुआ, तो वह घबराकर उसी समय दौड़ा हुआ आया। उसने रास्ते में ही धनकीर्ति को मार डालने की युक्ति सोचकर अपनी नगरी के बाहर पार्वती के मन्दिर में एक मनुष्य को इसलिए नियुक्त कर दिया कि मैं किसी बहाने से धनकीर्ति को रात के समय यहाँ भेजूँगा, सो उसे तुम मार डालना। इसके बाद वह अपने घर आया और एकान्त में अपने जमाई को बुलाकर उसने कहा—देखो जी, मेरी कुल परम्परा में एक रीति चली आ रही है, उसका पालन तुम्हें भी करना होगा। वह यह है कि नवविवाहित वर रात्रि के आरम्भ में उड़द के आटे के बनाए हुए तोता, काक, मुर्गा आदि जानवरों को लाल वस्त्र से ढककर और कंकण पहने हुए हाथ में रखकर बड़े आदर के साथ शहर के बाहर पार्वती के मन्दिर में ले जाए और शान्ति के लिए उनकी बलि दे ॥१०३-१०९॥

यह सुनकर धनकीर्ति बोला—जैसी आपकी आज्ञा। मुझे शिरोधार्य है। इसके बाद वह बलि लेकर

गदित्वेति समादाय तं बलिं भद्रमानसः। निर्गतस्तु पुरीबाह्ये दृष्टोऽसौ शालकेन च ॥११०॥
 महाबलेन पृष्टस्तु हंहो त्वं यासि कुत्रचित्। एकाकी तमसि व्याप्ते तन्निशम्य जगाद सः ॥१११॥
 महाबल बलिं दातुं दुर्गायै गम्यते मया। मातुलस्य निदेशेन तदाकर्ण्य महाबलः ॥११२॥
 प्राहैवं तत्र गच्छामि याहि त्वं निजमन्दिरम्। तातो रोशिष्यति व्यक्तं सर्वं जानेऽहकं तदा ॥११३॥
 इत्युच्चैस्तन्निषिद्धोऽसौ धनकीर्तिः स्वपुण्यतः। निर्विघ्नं गृहमायातः स च प्राप्तो यमालयम् ॥११४॥
 पूर्वपुण्येन जन्तूनां कालवह्निर्जलायते। स्थलायते समुद्रोऽपि शत्रुर्मित्रायते भृशम् ॥११५॥
 हालाहलं सुधाभावं यात्यापत्सम्पदा भवेत्। विघ्ना नश्यन्ति निःशेषा महाभीत्येव सत्वरम् ॥११६॥
 तस्मात्पुण्यं बुधैः कार्यं स्वर्मोक्षसुखबीजकम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सर्वदुःखौघनाशकम् ॥११७॥
 तत्सुपुण्यं जिनेन्द्रार्चा महाभक्तिभरान्विता। पात्रदानं व्रतं शीलं सोपवासं क्रियादिकम् ॥११८॥
 पुत्रशोकाकुलः श्रेष्ठी श्रीदत्तो धर्मवर्जितः। एकान्ते कामिनीं प्राह विशाखां प्रति हे प्रिये ॥११९॥

घर से निकला। शहर के बाहर पहुँचते ही उसे उसका साला महाबल मिला। महाबल ने उससे पूछा—
 क्यों जी! ऐसे अन्धकार में अकेले कहाँ जा रहे हो? उत्तर में धनकीर्ति ने कहा—आपके पिताजी की
 आज्ञा से मैं पार्वती के मन्दिर बलि देने के लिए जा रहा हूँ। यह सुनकर महाबल बोला—आप बलि
 मुझे दे दीजिए, मैं चला जाता हूँ। आपके वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप घर पधारिए।
 धनकीर्ति ने कहा—देखिए, इससे आपके पिताजी बुरा मानेंगे। इसलिए आप मुझे ही जाने दीजिए।
 महाबल ने कहा—नहीं, मुझे बलि देने की सब विधि वगैरह मालूम है, इसलिए मैं ही जाता हूँ—यह
 कहकर उसने धनकीर्ति को तो घर लौटा दिया और आप दुर्गा के मन्दिर जाकर काल के घर का पाहुना
 बना। सच है— ॥११०-११४॥

पुण्यवानों के लिए कालरूपी अग्नि जल हो जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, शत्रु मित्र बन
 जाता है, विष अमृत के रूप में परिणत हो जाता है, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है और विघ्न डर के मारे
 नष्ट हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमानों को सदा पुण्यकर्म करते रहना चाहिए। पुण्य उत्पन्न करने के कारण
 ये हैं—भक्ति से भगवान् की पूजा करना, पात्रों को दान देना, व्रत पालना, उपवासादि के द्वारा इंद्रियों
 को जीतना, ब्रह्मचर्य रखना, दुखियों की सहायता करना, विद्या पढ़ाना, पाठशाला खोलना अर्थात्
 अपने से जहाँ तक बन पड़े तन से, मन से और धन से दूसरों की भलाई करना ॥११५-११८॥

अपने पुत्र के मारे जाने की जब श्रीदत्त को खबर हुई, तब वह बहुत दुःखी हुआ। पर फिर भी
 उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसका हृदय अब प्रतिहिंसा से और अधिक जल उठा। उसने अपनी स्त्री को
 एकान्त में बुलाकर कहा—प्रिये, बतलाओ तो हमारे कुलरूपी वृक्ष को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले
 इस दुष्ट की हत्या कैसे हो? कैसे यह मारा जा सके? मैंने इसके मारने को जितने उपाय किए, भाग्य
 से वे सब व्यर्थ गए और उलटा उनसे मुझे ही अत्यन्त हानि उठानी पड़ी। सो मेरी बुद्धि तो बड़े
 असमंजस में फँस गई है। देखो, कैसे अचंभे की बात है जो इसके मारने के लिए जितने उपाय किए,

अस्मद्वंशतरुच्छेदी हन्यतेऽयं कथं खलः। नाना पापपरित्यक्तो व्यक्तो वैरी गृहे स्थितः ॥१२०॥
 श्रेष्ठिन्यालपितं श्रेष्ठिन्वृद्धत्वात्रैव वेत्ति च। तस्मात्तूष्णीं समास्व त्वं कुर्वेहं वाञ्छितं तव ॥१२१॥
 इत्याभाष्य परेद्युश्च विषं संचार्य मोदकान्। कृत्वा तां तनुजां प्राह विशाखा पापमण्डिता ॥१२२॥
 श्रीमते भो सुते ये च चन्द्रकान्तिवदुज्ज्वलाः। ते मोदकाः स्वकान्ताय श्यामवर्णास्तु ये ध्रुवम् ॥१२३॥
 दीयन्ते त्वया मुग्धे स्वताताय गुणोज्ज्वले। इत्युक्त्वा श्रेष्ठिनी शीघ्रं गता स्नानाय सा नदीम् ॥१२४॥
 सा पुत्री श्रीमतिश्चेति यच्छुभं भुवनत्रये। तद्देयं स्वपितुर्भक्त्या किं पती रागकारणम् ॥१२५॥
 अज्ञातमातृदुश्चेष्टा संविचार्येति मोदकान्। विपर्ययेण दत्ते स्म विचित्रा कर्मणां गतिः ॥१२६॥
 तद्भक्षणात्तदा श्रेष्ठी श्रीदत्तो मृत्युमाप्तवान्। दुष्कर्मकारिणां लोके कुतः श्रेयो भवत्यहो ॥१२७॥
 सा विशाखा समागत्य नाथशून्यं निजालयम्। दृष्ट्वा शोकं विधायोच्चै रुदित्वा च सुतां जगौ ॥१२८॥

उन सबसे रक्षा पाकर और अपना ही बैरी बना हुआ यह अपने घर में बैठा है ॥११९-१२०॥

श्री दत्त की स्त्री ने कहा—बात यह है कि अब आप बूढ़े हो गए हैं। आपकी बुद्धि अब काम नहीं देती। अब जरा आप चुप होकर बैठे रहें। मैं आपकी इच्छा बहुत जल्दी पूरी करूँगी। यह कहकर उस पापिनी ने दूसरे दिन विष मिले हुए लड्डू बनाये और अपने पुत्री से कहा—बेटी श्रीमती, देख मैं तो अब स्नान करने जाती हूँ और तू इतना ध्यान रखना कि ये जो उजले लड्डू हैं, उन्हें तो अपने स्वामी को परोसना और जो मैले हैं, उन्हें अपने पिता को परोसना। यह कहकर श्रीमती की माँ नहाने को चली गई। श्रीमती अपने पिता और पति को भोजन कराने को बैठी। बेचारी श्रीमती भोली-भाली लड़की थी और न उसे अपनी माता का कूट-कपट ही मालूम था; इसलिए उसने अच्छे लड्डू अपने पिता के लिए ही परोसना उचित समझा, जिससे कि उसके पिता को अपने सामने श्रीमती का बरताव बुरा न जान पड़े और यही एक कुलीन कन्या के लिए उचित भी था, क्योंकि अपने माता-पिता या बड़ों के सामने ऐसा बेहयापन काम अच्छी स्त्रियाँ नहीं करती। इसलिए जो लड्डू उसके पति के लिए उसकी माँ ने बनाये थे, उन्हें उसने पिता की थाली में परोस दिया। सच है—

“विचित्रा कर्मणां गतिः” अर्थात् कर्मों की गति विचित्र ही हुआ करती है ॥१२१-१२६॥

विष मिले हुए लड्डूओं के खाते ही श्रीदत्त ने अपने किए कर्म का उपयुक्त प्रायश्चित पा लिया, वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुआ। ठीक ही कहा है कि पाप कर्म करने वालों का कभी कल्याण नहीं होता ॥१२७॥

श्रीमती की माँ जब नहाकर लौटी और उसने अपने स्वामी को इस प्रकार मरा पाया तो उसके दुःख का कोई पार नहीं रहा। वह बहुत विलाप करने लगी परन्तु अब क्या हो सकता था! जो दूसरों के लिए कुआँ खोदते हैं, उसमें पहले वे स्वयं ही गिरते हैं, यह संसार का नियम है। श्रीमती की माँ और पिता उसके उदाहरण हैं। इसलिए जो अपना बुरा नहीं चाहते उन्हें दूसरों का बुरा करने का कभी

हे सुते तव तातेन मयापि क्रूरचेतसा। स्वान्वयक्षयकारीति सर्वं दुश्चेष्टितं वृथा ॥१२९॥
पूर्णं बहुप्रलापेन स्वकान्तेन समं मुखम्। तिष्ठ त्वमेव गेहेस्मिञ्छक्रेणेव शची यथा ॥१३०॥
इत्याशीर्वचनं दत्त्वा तं समासाद्य मोदकम्। प्राप्ता यमालयं सापि दुर्धियामीदृशी गतिः ॥१३१॥
परेषां येऽत्र कुर्वन्ति विघ्नं दुष्टाशयाः खलाः। ते स्वयं विघ्नमासाद्य पश्चाद्यान्त्येव दुर्गतिम् ॥१३२॥
ततः श्रीधनकीर्तिस्तु पूर्वपुण्यप्रभावतः। उल्लङ्घितमहाघोर-पंचापत्सुखतः स्थितः ॥१३३॥
एकदा शुभयोगेन विश्वंभरमहीभुजा। महोत्सवशतैस्तस्मै दत्त्वा कन्यां निजां शुभाम् ॥१३४॥
नाना रत्नादिसन्देशैः पूजितो धनकीर्तिवाक्। महाश्रेष्ठिपदे शीघ्रं स्थापितो जयघोषणैः ॥१३५॥
अहो भव्या न कर्त्तव्य-माश्चर्यं भुवनत्रये। जैनधर्मप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥१३६॥
तत्प्रतापं समाकर्ण्य स श्रेष्ठी गुणपालवाक्। कौशाम्बीदेशतः शीघ्र-मुज्जयिन्यां समागतः ॥१३७॥

स्वप्न में भी विचार नहीं करना चाहिए। अन्त में श्रीमती की माता ने अपनी पुत्री से कहा—हे पुत्री! तेरे पिता ने और मैंने निर्दय होकर अपने हाथों ही अपने कुल का सर्वनाश किया। हमने दूसरे का अनिष्ट करने के जितने प्रयत्न किए वे सब व्यर्थ गए और अपने नीच कर्मों का फल भी हमें हाथों हाथ मिल गया। अब जो तेरे पिताजी की गति हुई वही मेरे लिए भी इष्ट है। अन्त में मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि तू और तेरे पति इस घर में सुख शान्ति से रहें जैसे इन्द्र अपनी प्रिया के साथ रहता है। इतना कहकर उसने भी जहर के लड्डुओं को खा लिया। देखते-देखते उसकी आत्मा भी शरीर को छोड़कर चली गई। ठीक है—दुर्बुद्धियों की ऐसी ही गति हुआ करती है। जो लोग दुष्ट हृदय बनकर दूसरों का बुरा कर सोचते हैं, उनका बुरा करते हैं, वे स्वयं अपना बुरा अन्त में कुगतियों में जाकर अनन्त दुःख उठाते हैं। इस प्रकार धनकीर्ति पुण्य के प्रभाव से अनेक बड़ी-बड़ी आपत्तियों से भी सुरक्षित रहकर सुखपूर्वक जीवनयापन करने लगा ॥१२८-१३३॥

जब महाराज विश्वम्भर को धनकीर्ति के पुण्य, उसकी प्रतिष्ठा तथा गुणशालीनता का परिचय मिला तो वे उससे बहुत खुश हुए और उन्होंने अपनी राजकुमारी का विवाह भी शुभ दिन देखकर बड़े ठाटबाट सहित उसके साथ कर दिया। धनकीर्ति को उन्होंने दहेज में बहुत धन सम्पत्ति दी, उसका खूब सम्मान किया तथा 'राज्य सेठ' के पद पर भी उसे प्रतिष्ठित किया। इस पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि संसार में ऐसी कोई शुभ वस्तु नहीं जो जिनधर्म के प्रभाव से प्राप्त न होती हो ॥१३४-१३६॥

गुणपाल को जब अपने पुत्र का हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई वह उसी समय कौशाम्बी से उज्जयिनी के लिए चला और बहुत शीघ्र अपने पुत्र से आ मिला। सबका फिर पुण्य मिलाप हुआ। धनकीर्ति पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों को भोगता हुआ अपना समय सुख से बिताने लगा। इससे कोई यह न समझ ले कि वह अब दिन-रात विषयभोगों में ही फँसा रहता था, नहीं; उसका अपने आत्मकल्याण की ओर भी पूरा ध्यान था वह बड़ी सावधानी के साथ सुख देने वाले जिनधर्म

एवं श्रीधनकीर्तिस्तु प्राप्ततातादिसंगमः। सुस्थितो निजपुण्येन सम्पदासारमण्डितः ॥१३८॥
 भुञ्जानो विविधान्भोगान्मुधीः पञ्चेन्द्रियोचितान्। धर्मशर्माकरे जैने सावधानो विचक्षणः ॥१३९॥
 श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजं नित्यं भक्त्या समर्चयन्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः पात्रदानेषु तत्परः ॥१४०॥
 नित्यं परोपकारादि-सत्कर्मस्थितिमाचरत्। बह्वालापेन किं कार्यं यत्फलं सुकृतोदयात् ॥१४१॥
 तत्तत्सर्वं समासाद्य पूर्वपुण्यप्रभावतः। अन्वभूत्सुचिरं सौख्यं जगच्चेतो नुरञ्जयन् ॥१४२॥
 अथैकदा महाश्रेष्ठी गुणपालो गुणोज्ज्वलः। सुधीः श्रीधनकीर्त्यादि-पुत्रमित्रादिसंयुतः ॥१४३॥
 दर्शनार्थं समायाता-नगसेनायुतोपि च। श्रीयशोध्वजनामानं मुनीन्द्रं त्रिजगद्धितम् ॥१४४॥
 अभिवन्द्य महाभक्त्या प्रीत्याप्रच्छच्च तं गुरुम्। स्वामित्रनेन पुत्रेण पुण्यं श्रीधनकीर्तिना ॥१४५॥
 किं पुरोपार्जितं येन बालत्वेऽपि महानसौ। नाना दुष्टोपसर्गोऽयं हेलया जयति स्म च ॥१४६॥
 कीर्तिमान्सारलक्ष्मीशः संजातः सारसौख्यभाक्। महाविज्ञानसम्पन्नो दाता भोक्ता दयापरः ॥१४७॥
 तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भगवन्वक्तुमर्हसि। तदा यशोध्वजः स्वामी चतुर्ज्ञानविराजितः ॥१४८॥
 स जगौ करुणासिन्धुः श्रूयतां भो वणिक्पते। अवन्तिविषये पूर्वं शिरीषग्रामवासकः ॥१४९॥
 मृगादिसेनको मत्स्य-बन्धकः किल त्वेकदा। यशोधरमुनेर्वाक्या-देकस्मिन्वासरे मुदा ॥१५०॥

की सेवा करता था, भगवान् की प्रतिदिन पूजा करता था, पात्रों को दान देता था, दुःखी अनाथों की सहायता करता था और सदा स्वाध्याय-अध्ययन करता था, मतलब यह कि धर्म-सेवा और परोपकार करना ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो गया था। पुण्य के उदय से जो प्राप्त होना चाहिए वह सब धनकीर्ति को इस समय प्राप्त था। इस प्रकार धनकीर्ति ने बहुत दिनों तक खूब सुख भोगा और सबको प्रसन्न रखने की वह सदा चेष्टा करता रहा ॥१३७-१४२॥

एक दिन धनकीर्ति का पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव को साथ लिए यशोध्वज मुनिराज की वन्दना करने को गया। भाग्य से अनंगसेना भी इस समय पहुँच गई संसार का उपकार करने वाले उन मुनिराज की सभी ने बड़ी भक्ति के साथ वन्दना की। इसके बाद गुणपाल ने मुनिराज से पूछा-प्रभो, कृपाकर बतलाइए कि मेरे इस धनकीर्ति पुत्र ने ऐसा कौन महापुण्य पूर्व जन्म में किया है, जिससे इसने इस बालपन में ही भयंकर से भयंकर कष्टों पर विजय प्राप्त कर बहुत कीर्ति कमाई, खूब धन कमाया और अच्छे-अच्छे पवित्र काम किए, सुख भोगा और यह बड़ा ज्ञानी हुआ, दानी हुआ तथा दयालु हुआ। भगवन्, इन सब बातों को मैं सुनना चाहता हूँ ॥१४३-१४८॥

करुणा समुद्र और चार ज्ञान के धारी यशोध्वज मुनिराज ने, मृगसेन धीवर के अहिंसाव्रत ग्रहण करने, जाल में एक ही एक मच्छ के बार-बार आने, घर पर सूने हाथ लौट आने, स्त्री के नाराज होकर घर में न आने देने आदि की सब कथा गुणपाल से कहकर कहा-वह मृगसेन तो अहिंसाव्रत के प्रभाव से यह धनकीर्ति हुआ, जो कि सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति का मालिक और महाभव्य है और मृगसेन की जो घण्टा नाम की स्त्री थी, वह निदान करके इस जन्म में भी धनकीर्ति की श्रीमती नाम की गुणवती स्त्री हुई

अहिंसाव्रतमाराध्य जातोसौ धनकीर्त्तिभाक्। महाभव्यो जगत्सार-सम्पदाप्रमदापतिः ॥१५१॥
 या घण्टा कामिनी पूर्व निदानवशवर्त्तिनी। सा श्रीमती प्रिया जाता सती सद्गुणमण्डिता ॥१५२॥
 पञ्चकृत्वो विमुक्तस्तु यो मत्स्यः स क्रमेण वै। अभूदनंगसेनेयं परोपकृतितत्परा ॥१५३॥
 एतत्सर्वमहिंसायाः फलं श्रेष्ठिन् विजृम्भते। जैनधर्मेण जन्तूनां किं न स्याद्भुवनत्रये ॥१५४॥
 इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्। श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मं बभ्रुवुस्ते तरां रताः ॥१५५॥
 श्रुत्वा भवान्तरं श्रीमान् धनकीर्त्तिः प्रसन्नधीः। श्रीमती कामिनी सापि गणिकानंगसेनिका ॥१५६॥
 त्रयो जातिस्मृतिं प्राप्य त्रिधा वैराग्यमाश्रिताः। धर्मं धर्मफलं ज्ञात्वा संजातास्तुष्टमानसाः ॥१५७॥
 तस्यैव सद्गुरोः पाद-मूले सेवापरायणः। श्रेष्ठी श्रीधनकीर्त्तिस्तु कीर्त्या व्याप्तजगत्त्रयः ॥१५८॥
 केशपाशं समुन्मूल्य मोहपाशमिवापरम्। दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं जगत्तापनिवारिणीम् ॥१५९॥
 निर्मलं सुतपस्तप्त्वा भव्यान्सम्बोध्य युक्तितः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-धर्मं कृत्वा प्रभावनाम् ॥१६०॥
 रत्नत्रयं समाराध्य संन्यासविधिना सुधीः। सर्वार्थसिद्धिसत्सौख्यं प्राप्तवान्भाविकेवली ॥१६१॥

अन्यग्रन्थे—

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्सस्याहिंसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोतीत्य धनकीर्त्तिः पतिः श्रियः॥

है और जो मच्छ पाँच बार पकड़कर छोड़ दिया गया था, वह यह अनंगसेना हुई है, जिसने कि धनकीर्ति को जीवनदान देकर अत्यन्त उपकार किया है, सेठ महाशय, यह सब एक अहिंसाव्रत के धारण करने का फल है और परम अहिंसामयी जिनधर्म के प्रसाद से सज्जनों को क्या प्राप्त नहीं होता। मुनिराज के द्वारा इस सुखदाई कथा को सुनकर सब ही बहुत प्रसन्न हुए, जिनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई। अपने पूर्व भव का हाल सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनंगसेना को जातिस्मरण हो गया। उससे उन्हें संसार की क्षणस्थायी दशा पर बड़ा वैराग्य हुआ। धर्माधर्म का फल भी उन्हें जान पड़ा। उनमें धनकीर्ति तो, जिसका कि सुयश सारे संसार में विस्तृत है, यशोध्वज मुनिराज के पास ही एक दूसरे मोहपाश की तरह जान पड़ने वाले अपने केशकलाप को हाथों से उखाड़ कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि संसार के जीवों का उद्धार करने वाली है। साधु हो जाने के बाद धनकीर्ति ने खूब निर्दोष तपस्या की, अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग पर लगाया, जिनधर्म की प्रभावना की, पवित्र रत्नत्रय प्राप्त किया और अन्त में समाधि सहित मरकर सर्वार्थसिद्धि का श्रेष्ठ सुख लाभ किया ॥१४९-१६१॥

धनकीर्ति आगे केवली होकर मुक्ति प्राप्त करेगा और ऋषियों ने भी अहिंसाव्रत का फल लिखते समय धनकीर्ति की प्रशंसा में लिखा है—“ धनकीर्ति ने पूर्व भव में एक मच्छ को पाँच बार छोड़ा था, उसके फल से वह स्वर्गीयश्री का स्वामी हुआ।” इसलिए आत्महित की इच्छा करने वालों को यह व्रत मन, वचन, काय की पवित्रतापूर्वक निरन्तर पालते रहना चाहिए।

धनकीर्ति दीक्षित हुआ देखकर श्रीमती और अनंगसेना ने भी हृदय से विषय-वासनाओं को दूरकर अपने योग्य जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जो कि सब दुःखों की नाश करने वाली है। इसके बाद

श्रीमतिस्तु तथानंग-सेनासौ भोगनिस्पृहे। यथायोग्यं समादाय दीक्षां दुःखौघनाशिनीम् ॥१६२॥
 स्वस्वभावानुसारेण स्वर्गलोकं समाश्रिते। आराध्य शासनं जैनं प्रापुः के के न सत्सुखम् ॥१६३॥
 इत्थं श्रीजिनसूत्रतो विरचिताहिंसाकथा शर्मणे संक्षेपेण मयाल्पबुद्धिवशिना धर्मानुरागेण च।
 नाना सारसुखप्रमोदजननी विघ्नौघनिर्नाशिनी भव्यानां भवशान्तये भवतु वै संभाविता मानसे ॥१६४॥
 जातः श्रीमति मूलसंघतिलके श्रीकुन्दकुन्दान्वये श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सद्बोधिसिन्धुर्महान्।
 तच्छिष्यः परमार्थपंडितनुतः श्रीसिंहनन्दीमुनिर्भव्यानां भवतारकोतिचतुरः सूरिशिचरं नन्दतु ॥१६५॥
 इति कथाकोशेऽहिंसाव्रते मृगसेनधीवरस्य कथा समाप्ता।

२६. वसुनृपस्य कथा

नत्वा जिनं जगद्वन्धुं सुरासुरसमर्चितम्। वक्ष्ये सत्यवचोदोषी चरित्रं वसुभूपतेः ॥१॥
 नगर्यां स्वस्तिकावत्यां राजा विश्वावसुः सुधीः। तद्राज्ञी श्रीमती तस्यां वसुनामा सुतोभवत् ॥२॥

अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर उन दोनों ने भी मृत्यु के अन्त में स्वर्ग प्राप्त किया। सच है-
 जिनशासन की आराधना कर किस किसने सुख प्राप्त न किया अर्थात् जिसने जिनधर्म ग्रहण किया
 उसे नियम से सुख मिला है ॥१६२-१६३॥

इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धि ने धर्म-प्रेम के वश हो यह अहिंसाव्रत की पवित्र कथा जैनशास्त्र के
 अनुसार लिखी है। यह सब सुखों की देने वाली माता है और विघ्नों को नाश करने वाली है। इसे आप
 लोग हृदय में धारण करें। वह इसलिए कि इसके द्वारा आपको शान्ति प्राप्त होगी ॥१६४॥

मूलसंघ के प्रधान प्रवर्तक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में मल्लिभूषण गुरु हुए। वे ज्ञान के
 समुद्र थे। उनके शिष्य श्रीसिंहनन्दी मुनि हुए। वे बड़े आध्यात्मिक विद्वान् थे। उन्हें अच्छे-अच्छे
 परमार्थविद्-अध्यात्मशास्त्र के जानकार विद्वान् नमस्कार करते थे। वे सिंहनन्दी मुनि आपके लिए
 संसार-समुद्र से पार करने वाले होकर संसार में चिरकाल तक बड़े। उनका यशःशरीर बहुत समय तक
 प्रकाशित रहे ॥१६५॥

२६. वसुराजा की कथा

संसार के बन्धु और देवों द्वारा पूज्य श्रीजिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर झूठ बोलने से नष्ट होने वाले
 वसुराजा का चरित्र मैं लिखता हूँ ॥१॥

स्वस्तिकावती नाम की एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजा का नाम विश्वावसु था। विश्वावसु
 की रानी श्रीमती थी। उसके एक वसु नाम का पुत्र था ॥२॥

वहीं एक क्षीरकदम्ब नामक उपाध्याय रहता था। वह बड़ा सुचरित्र और सरल स्वभावी था।
 जिनभगवान् का वह भक्त था और होम, शान्तिविधान आदि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थों के लिए